चौमासा

वर्ष-24 अंक-78
नवम्बर-08, फरवरी-09

सम्पादक
डॉ. कपिल तिवारी

सहायक सम्पादक
अशोक मिश्र

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क
आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्
मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल,
बाणगंगा, भोपाल-462003
www.mpculture.in ● E-mail : mplokkala@rediffmail.com

मूल्य
एक प्रति बीस रूपये
वार्षिक पचास रूपये
आजीवन सदस्यता पन्द्रह सौ रूपये
चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

प्रचार/प्रसार
श्रीमती उर्मिला पारखे
प्रवीण गावण्डे

शब्दांकन
आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी,
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

आवरण
सभी लघुचित्र, अश्वशास्त्रम् से साभार

मुद्रण
शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादेमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

डॉ. कपिल तिवारी, निदेशक, आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादेमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल, बाणगंगा, भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-डॉ. कपिल तिवारी

इस अंक में

प्रतीक और मिथक में समायी समष्टि / वसन्त निरगुणे / 9
भारतीय वाङ्मय में अश्व / आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी / 40
अश्व : जैविक उद्विकास से मानव सभ्यता तक / घनश्याम गुप्त / 44
अश्व पृथ्वी का महान आकर्षण / वसन्त निरगुणे / 69
भारतीय संस्कृति में अश्व / डॉ. पूरन सहगल / 76
भारतीय परम्परा में अश्व का प्रसंग / मायापति मिश्र / 81
राजस्थान में अश्व चर्चा / डॉ. महेन्द्र भानावत / 84
शक्तिमान अश्व / लक्ष्मीनारायण तिवारी / 93
लोक साहित्य में अश्व / डॉ. अंशुबाला मिश्रा / 98
लोकगीतों में घोड़ा / रमेशचंद्र तोमर 'निमाड़ी' / 103
निमाड़ी संस्कृति और साहित्य में अश्व / छोगालाल कुमरावत 'सुजस' / 112
बुन्देली गाथाओं में अश्व / डॉ. ओमप्रकाश चौबे / 138
बुन्देली जीवन में अश्व / पं. गुणसागर 'सत्यार्थी' / 148
लोकमान्यता में अश्व / राधाकृष्ण बावनिया / 151
लोकप्रिय अश्व / डॉ. रामनारायण सिंह 'मधुर' / 153
लोक उपयोगिता में अश्व / डॉ. रशीद अहमद पहाड़ी / 155
नवलखा घोड़ा : गरुड़ का अवतार / महेश साकल्ये / 158

लोक सांस्कृतिक परम्परा के किसी एक पक्ष पर केन्द्रित अध्ययनों की दिशा में, लोक के विशाल वाचिक संसार के अनेक स्तर हमारे शोध और अध्ययन का विषय बने हैं। लोक की भौतिक संस्कृति के पक्षों जैसे रूपंकर और प्रदर्शनकारी कलाओं तथा शब्द रचना की मौखिक विरासत से होते हुए आप हम अधिक सूक्ष्म स्तरों तक जाते हैं। लोक की देव परम्परा पर केन्द्रित पिछले अंक के बाद सांस्कृतिक परम्परा और चेतना में रचे-बसे लोक प्रतीकों और अभिप्रायों पर 'चौमासा' का यह अंक केन्द्रित है। किसी जनपद की अपनी संस्कृति बहुस्तरीय और जटिल रचना होती है। उसमें जीवन का व्यावहारिक अनुभव, धार्मिक-आध्यात्मिक ज्ञान, संस्कृति और कला सृजन एक दूसरे से प्रतिकृत और परस्परता की लम्बी जीवन यात्रा में अपना एक विशिष्ट स्वरूप निर्मित करती है।

इस सांस्कृतिक विशिष्टता में किसी अंचल की भौतिक प्रकृति, स्थानिक परिस्थितियाँ, जनपदीय इतिहास और उसमें संभव जीवन और उसके बोध के सभी पक्ष और रूप समाहित होते हैं। पहाड़ों, मैदानों, रेगिस्तानों और नदियों तथा समुद्र तटों के किनारे सांस्कृतिक परम्पराओं की कितनी स्थानिक और विशिष्ट शैलियों और रूपाकारों का विकास हुआ है। यह विविधता का भी एक विशाल अकल्पनीय संसार है, जिसमें पारम्परिक नृत्य शैलियों, शिल्पों, चित्रों, गायन विधियों तथा मौखिक साहित्य और भाषा का एक बहुविध संसार बनता है, तो मनुष्यों की आराधना के देवता और पूज्य प्रतीक तथा अभिप्रायों की भी एक अलग दुनिया बन जाती है, लेकिन उस देश की समग्र सांस्कृतिक और ज्ञान परम्परा इसे स्थानिक संस्कृति का विश्वबोध बनाते हैं- इसीलिए हमें विविधता और मूलभूत सांस्कृतिक बोध की एकता अथवा स्थानिक और सार्वभौम को अपनी सम्पूर्णता में देखने-समझने की जरूरत होती है। व्यापक सार्वभौम अर्थ के बिना स्थानिक संभव नहीं होता और स्थानिक के अपने विशिष्ट रूप के अनूठेपन और विविधता के बिना सार्वभौम केवल ज्ञान में रह जाता है- वह कभी रचना नहीं बन पाता।

परम्परा के सुदीर्घ जीवन में अर्थों की अभिव्यक्ति और समूह चित्त द्वारा उसकी ग्रहणशीलता के अनेक स्तर हैं- भाषिक अभिव्यक्ति, अर्थों की अभिव्यक्ति का सबसे स्थूल और प्रकट रूप है, लेकिन जीवनानुभव, ज्ञान और सांस्कृतिक परम्पराओं तथा सौन्दर्य रचना के क्षेत्र में भाषा स्वयं को बहुत से रूपों में प्रकट करती है, उसके कुछ रूप तो इतने सांकेतिक और विशिष्ट हो जाते हैं कि उनका अनुवाद अपने सभी अर्थों में असंभव हो जाता है।

ज्ञान की संस्कृति की अपनी एक 'पारिभाषिकता' है। अनेक कूट अर्थ एक लम्बी परम्परा में पारिभाषिकता विकसित करते हैं। इस 'पारिभाषिकता' की विशिष्टता समझे वगैर, उस विशिष्ट क्षेत्र अथवा विषय में सटीक अर्थों को समझना कठिन होता है। उदाहरण के लिए वैदिक ज्ञान परम्परा की अपनी एक पारिभाषिकता है, तो श्रमण ज्ञान परम्परा की अपनी अलग पारिभाषिकता। शब्द, शब्द समष्टियों, विशिष्ट कूट अर्थों और संकेत-प्रतीक आदि की उसी विषय परम्परा में सम्यक् समझ के बिना वे अर्थ नहीं खोले जा सकते।

प्रतीक और प्रतीकात्मकता, संकेत और विशिष्ट अभिप्रायों को हमें अर्थों की इसी पारिभाषिकता के साथ समझना होता है। आध्यात्मिक ज्ञान परम्परा के अपने प्रतीक हैं, कुछ विशिष्ट अभिप्राय हैं, तो सांस्कृतिक परम्परा के साथ भी प्रतीक और अभिप्राय धीरे-धीरे विकसित हो जाते हैं- एक देश की ज्ञान और संस्कृति की परम्परा जो अपने आध्यात्मिक और दार्शनिक तथा सांस्कृतिक काव्यार्थ में सहज ही उस परम्परा में सभी लोगों के द्वारा समझी जाती है, उसे समझने परम्परा का जीवन और देशकाल, अभिव्यक्ति के लाक्षणिक अर्थ और कूट संकेत समझना आवश्यक है। एक प्राचीन परम्परा के साथ यह कठिनाई बढ़ती चली जाती है, क्योंकि बदलते देश-काल और भाषा के भीतर 'ज्ञान का वह अर्थार्ष' समझना और अधिक कठिन हो जाता है। हमारी भाषिक संबोधि बदलती जाती है, उसमें इतनी चीजें और नये अर्थ समाहित हो जाते हैं कि एक सीमा के बाद समय और अर्थों के भी अनेक अन्तराल पैदा हो जाते हैं। भारत में शास्त्र और लोक, लिखित और मौखिक दोनों ही क्षेत्रों में प्रतीक-संकेत और अभिप्रायों की एक परम्परा हमारी विरासत है, हमारे संज्ञान में अधिकांशत: उनके अर्थ प्रतीकों में ही एक रूढ़ि का शिकार हो गये हैं, उनके वास्तविक कूट अर्थ कहीं पीछे छूट गये हैं। इन्हें समझने हमें शास्त्र और लोक के अभिप्रायों (मोटिफ) पर अपना अवधान केन्द्रित करने और उसके साथ जुड़ी एक विशिष्ट पारिभाषिकता को समझने की जरूरत है। हमारा मूल सरोकार सांस्कृतिक परम्परा और कलाओं में सन्निहित प्रतीकों और प्रतीकात्मकता तथा विशेष रूप से अभिप्रायों (मोटिफ) के अध्ययन और विश्लेषण पर केन्द्रित है। जैसे आध्यात्मिक ज्ञान परम्परा के अपने कुछ विशेष प्रतीक और अभिप्राय हैं, जिनके अर्थों के बिना हम उसका सार नहीं समझ सकते, वैसे ही सांस्कृतिक परम्परा में विकसित और अर्थबोध में स्थापित प्रतीक, परम्परा के संज्ञान के बिना हम सौन्दर्यबोध और रचना के विशेष संदर्भ को अपने सम्यक् अर्थ में ग्रहण नहीं कर सकते। संस्कृति परम्परा का साधना और ज्ञान की परम्परा से एक सूक्ष्म और गहरा संबंध होता है। ज्ञान जब रचना बनता है, तो उसे न केवल ज्ञान प्रतीकों और अभिप्रायों से प्रतिकृत होना होता है, बल्कि स्वयं रचना अपनी एक प्रतीक परम्परा विकसित करने लगती है। ज्ञान के संस्कृतिकरण की इस यात्रा में प्रतीक अपने अर्थों के साथ एक दूसरे से मिलते और अपना अर्थ विस्तृत करते हैं, इसलिए इन दोनों परम्पराओं के साथ हमें प्रतीकों और अभिप्रायों को मिलाकर देखना चाहिये।

प्रतीक विशिष्ट अर्थ का सामान्यीकरण और समूह चित्त में उसका विस्तार है, तो अभिप्राय उसके तात्त्विक कूट अर्थ। अभिप्रायों का महत्त्व उस विषयवस्तु की वास्तविकता और सार में निहित है, जो 'बीजरूपा' है, प्रतीक अर्थों का विस्तार और सामान्यीकरण करते एक विशाल वृक्ष की तरह हैं। एक वृक्ष की सारी सम्भावनाएँ और रंग-रूप बीज में अन्तर्निहित होते हैं। फिर भी ज्ञान परम्परा के अर्थार्ष में वे विशिष्ट, व्यक्तिपरक अथवा एक विशेष आध्यात्मिक सम्प्रदाय अथवा धारा के भीतर सुपरिचित और अर्थ प्रवह होते हैं, जबकि प्रतीक सामान्य लोक चेतना तक अपने अर्थ को प्रकाशित करता है, यही उसके अर्थ का सामान्यीकरण है।

इस क्षेत्र में प्रतीक, अभिप्राय, संकेत और रूपक की अपनी-अपनी अलग भूमिकाएँ और अर्थ हैं, यद्यपि वे एक-दूसरे से जुड़े हुए भी हैं। सूर्य, चन्द्र, धरती, विशिष्ट देवता और मातृशक्तियाँ, पशु-पक्षी, वृक्ष, पुष्प, सरीसृप और कीट विशेष शुभ संकेत और ज्यामितिक आकृतियाँ तथा चिन्ह- ज्ञान और संस्कृति रचना के प्रतीक और कूट अर्थ (अभिप्राय) हैं। अस्तित्त्व के विशाल विस्तार में सभी दिशाओं में संकेत करता स्वस्तिक और प्रणव रूपा मूल शक्ति

ऊंकार तत्वत: चित्रात्मक और चिन्ह् अंकन परम्परा हैं, वे प्रतीक ज्ञान की परम्परा से चलकर संस्कृति परम्परा तक आये हैं, तो कुछ विशिष्ट प्रतीक एक टोटम की भाँति समुदायों और जातीय परम्पराओं की स्थानिकता से व्यापक लोक तक एक प्रतीक बने हैं, अर्थात् वे मूलत: ज्ञान परम्परा के बजाय समाज, जीवन और संस्कृति रचना के विशिष्ट अभिप्राय हैं।

कला, भौतिक संस्कृति की रचना परम्परा है, संस्कृति बोध और समाजों की संस्कृति निर्मिति बहुत विशाल है, उसमें धारणाओं और आस्था तक विस्तारित एक गहन सूक्ष्मता और अमूर्त्त अर्थों की विशाल समष्टि साथ में यात्रा करती है। भौतिक संस्कृति के विविध रूपों में व्यक्त संस्कृति बोध स्वयं अपनी प्रतीकात्मकता रचता है, लेकिन इसके अर्थ का साधारणीकरण लोक में प्रत्येक व्यक्ति को होता है। ज्ञान की भाँति संस्कृति अपने अनुभव और सम्वेदना में इतनी निजी और व्यक्ति केन्द्रित नहीं होती, जितनी ज्ञान परम्परा हो सकती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि ज्ञान अथवा तत्त्वबोध के कूट अर्थ संस्कृति में विशिष्ट प्रतीक होकर सबके अर्थ की सम्पदा बन जाते हैं।

निराकार की अपनी साधना और आध्यात्मिक अनुभव की विशिष्टता में सन्त कबीर के ज्ञान का अर्थार्ष कूट अभिप्रायों और विशिष्ट पारिभाषिकता में समाहित है, जबकि साखी, सबद और रमैनी के रूप में उनकी ज्ञान अभिव्यक्ति 'कविता' होकर एक संस्कृति अर्थ रचना है। वह सबको प्रिय है, जो अर्थों को ग्रहण करने की प्रत्येक व्यक्ति को एक स्वतंत्रता देती है, वह 'प्रकाश' का एक 'गान' होकर ज्ञान की 'प्रार्थना' तक फैल जाती है। लोक संस्कृति और अनुभव के ज्ञान में प्रतीक का विकास और अर्थ एक व्यावहारिक जीवन परम्परा से आता है, वह बहुत सीमा तक आध्यात्मिक ज्ञान पर निर्भर रहने के बजाय अपने अनुभव से सीखती लोक की व्यवहार परम्परा, जिसमें ज्ञान पूरी तरह जीने की संस्कृति है। जीने की संस्कृति से हमारा आशय अनुभव केन्द्रित ज्ञान और उसी में रची-बसी संस्कृति की परम्परा से है, जिनसे जीवन की शैलियाँ बनती हैं। उसमें संस्कृति का रूप अलग और भिन्न नहीं होता, जैसे भारतीय शिल्प परम्परा में कभी उपयोगी और सौन्दर्यात्मक शिल्पों में कोई विभाजन नहीं रहा, वैसे ही लोक के 'जीवन' और 'संस्कृति' की अभिन्नता को समझना होगा। 'जीने की संस्कृति' से हमारा यही अभिप्राय है।

जीवन अनुभव और संस्कृति की इस समग्रता में लोक का संज्ञान और सौन्दर्य, अनुभव और संवेदना का विकास हुआ है, इसमें 'सत्य' और 'सुन्दरता' एकमेक है। इसकी अभिव्यक्तियाँ वाचिक है जिनमें भाषा और भाषातीत के अर्थ समग्र है, 'आचरण' ही अनुभव के ज्ञान का साक्षी होता है और 'जीवन की धन्यता का उत्सव' ही 'सुन्दरता में रचा' जाता है। समय के जितने प्रवाह को हमारी चेतना धारण और स्मरण नहीं रख सकती, जीवन की अनन्तता में जितनी पीढ़ियों में ज्ञान और अर्थ तथा सुन्दरता की ये अभिव्यक्तियाँ हम तक आतीं हैं, हर पीढ़ी के लिए यह 'सनातन' एक 'समकाल' रच देता है जहाँ भाषा 'अर्थ' और 'सुन्दरता' के गुम्फित प्रतीकों में बदल जाती है और 'तात्त्विकता' अपने को 'कूट अर्थों' के अभिप्रायों में छिपा लेती है। यह एक परम्परा में ऐसी 'प्राचीनता' है, जो स्वयं को हर दिन 'नया' कर लेती है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना में 'प्रतीक' का निजी अर्थ ग्रहण करने स्वतंत्र हो जाता है। अभिप्रायों में व्यक्त कूट अर्थ अपने 'सत्य' और तात्त्विकता में एक 'सनातन' अर्थ लिए प्रतीक्षा करता रहता है जबकि प्रत्येक पीढ़ी और प्रत्येक मनुष्य प्रतीक का एक नया अर्थ ग्रहण करता जाता है। जीवन्त परम्पराओं में 'सनातन' और 'प्राचीन' का अर्थ ही बदल जाता है। जो परम्पराएँ सदा के लिए लुप्त हो गयीं, उनके संदर्भ में 'प्राचीन' का एक और अर्थ है और 'सनातन' कुछ होता ही नहीं। जीवन्त सदानीरा परम्परा, जीवन और संस्कृति रचना में अपना 'सनातन' और 'वर्तमान' एक साथ है। सौभाग्य से हम जीवन और संस्कृति में ऐसे ही 'प्रवाह' का एक भाग हैं। इसलिए हमारे लिए जीवन के अर्थ संस्कृति की सुन्दरता के संदर्भ में 'प्रतीक' और अभिप्राय का कुछ विशेष अर्थ है।

चौमासा के इस अंक से हम प्रतीकों और अभिप्रायों के इस संसार में प्रवेश कर रहे हैं- कुछ अर्थ बहुत

सुपरिचित होकर भी जैसे अपना अर्थ खो देते हैं- एक संभव सामान्यता उनके वास्तविक अर्थ को ढंक लेती है, ऐसे प्रतीकों पर एक बार फिर विचार करना चाहिये, उनकी तात्त्विक सत्ता क्या है? कुछ अभिप्रायों के गहन अर्थ जैसे सदा के लिए 'शास्त्रों' में बंद हो गये हैं- पूजा की चीज़ में बदल गये इन शास्त्रों को खोलकर उनका फिर 'स्वाध्याय' करना है, अन्ततः अर्थ 'छिपाने' के लिए नहीं 'प्रकट' करने के लिए खोजे जाते हैं। इस शृँखला का आरंभ 'अश्व' के प्रतीक से किया जा रहा है। इसका 'ज्ञान' और 'रचना' में विशिष्ट अर्थ है। ज्ञान में वह 'ऊर्जा', 'शक्ति' और 'गति' है। सौन्दर्य रचना में वह विलक्षण 'मूर्ति' और 'चित्र' है। वह मिट्टी, पत्थर, धातु, लकड़ी, चमड़े और बाँस तथा घाँस के माध्यमों में अपना स्वरूप प्रकट करता है।

रंगों-आकारों के संसार में वह चित्र होकर रंगों में दौड़ता और भंगिमाओं में आकारों को चुनौती देता है। हजारों आकारों में रूपायित उसकी अनगिनित भंगिमाओं में कोई एक भंगिमा छूट जाती है- उसे पकड़ने और फिर रचने के लिए सदियों से शिल्पी और चित्रकार अनवरत उसका पीछा कर रहे हैं। अपनी प्रत्येक 'मुद्रा' और 'भंगिमा' में वह कभी पूरी तरह अंकित नहीं किया जा सकता, वह गति है। वह चकित और मुग्ध कर देने वाली ऊर्जा है, जिसे 'अश्व' के भीतर पकड़ना कठिन होता है। वह 'गति' है, जो हमारी 'आँख' और हमारे 'देखने' के लिए एक चुनौती है। गति का एक वर्तुल दृष्टि पकड़ती है, तब तक कुछ नये वर्तुल बन हमारी आँख से देखने में अदृश्य हो जाते हैं।

वह शक्ति और ऊर्जा ही क्या, जिसे हम पूरा देख लें, वह गति ही क्या जो पकड़ में आ जाये। उसमें सदा कुछ छूट जाता है। उसके आकार-प्रकार में एक विचित्र सम्मोहन है, हमारी आँखें मंत्रबिद्ध-सी एकटक उसे देखती ही रह जाती हैं। वह गति की अपनी 'अकथनीय चंचलता' में कभी स्थिर नहीं लगता, जैसे जब वह एक जगह खड़ा हो, तब भी उसमें कोई गति सक्रिय रहती है।

वह देवताओं, वीरों और दुर्धर्ष योद्धाओं की सवारी है, उसमें पौरूष का सूर्य दमकता रहता है। भारतीय देवलोक में 'शक्ति' का वाहन 'सिंह' है, उस पर स्वयं जगन्माता 'शक्ति' विराजतीं हैं, कोई और उस पर सवारी नहीं कर सकता। 'शक्ति' से 'शक्तिवान्' हैं उन वीरों और योद्धाओं की सवारी 'अश्व' है। अश्व स्वयं शक्ति से शक्तिवान् है। वह सूर्य के रथ को चलाने वाला वाहन है, जो दिन-रात बिना विश्राम किये सृष्टि को आलोकित करते हैं। वे 'प्राण' की जीवन्तता है, जिनसे सौर मण्डल का प्रत्येक ग्रह 'प्रकाशित' और 'प्राणमय' है, वह पृथ्वी और पृथ्वी पर संभव सारी प्राणसत्ता का आधार है।

'अश्व' उसे ही अनवरत लिए चल रहे हैं। वह निरन्तर गतिशील और बदलते जीवन का एक विचित्र रूपक है- मनुष्य की प्रत्येक गति को चुनौती देता। भारतीय ज्ञान और संस्कृति की परम्परा में वह इसीलिए शक्ति और ऊर्जा, गति और उसकी निरन्तरता है। शक्ति और गति के साथ-साथ भारतीय ज्ञान परम्परा में अश्व 'काल' का भी एक प्रतीक हैं। 'काल' जो परिवर्तन के महान् नियम अर्थात् उसके 'ऋत' को संभव करता है। सारी प्राणिसत्ता का जीवन और उसकी मृत्यु तथा नवजीवन की संभावना का अनन्त जिससे प्रकट होता है।

अपनी गति में जो 'अतीत' और 'आगत' के साथ मनुष्य की स्मृति और आशा है, इन दोनों के बीच अपनी तत्त्व सत्ता में वह एक क्षण होकर नित्य वर्तमान है। वह कहीं स्थिर नहीं है, उसके होने का अर्थ ही 'गति' है। 'अश्व' जब थोड़ी देर के लिए 'ठहरा' भी हो तो, ऐसा लगता है- जैसे वह अपनी जगह खड़ा रहकर भी चल रहा हो। भारतीय कला में अश्व की इन्हीं बहुविध छवियों को हम देखें-समझेंगे, वह हमारे अवधान का पहला 'प्रतीक' है।

-कपिल तिवारी